बिज़नेस स्टैंडर्ड
वर्ष 12 अंक 53

आंकड़ों में पारदर्शिता

गत सप्ताह अंतरराष्ट्रीय मुद्रा कोष (आईएमएफ) ने वर्ष 2019-20 और 2020-21 में देश के सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में होने वाली वृद्धि को लेकर अपने अनुमान में संशोधन किया और दोनों वर्षों के अनुमान को 20 आधार अंक कम करके क्रमश: 7.3 फीसदी और 7.5 फीसदी कर दिया। इससे पहले विश्व बैंक ने भी भारत में जीडीपी वृद्धि के अनुमान को संशोधित करके घटाया था और कहा था कि 2019-20 में यह 7.2 फीसदी रह सकती है। उसने भी 20 आधार अंकों की कमी की थी। ये अनुमान हालिया आधिकारिक आंकड़ों के अनुरूप नहीं हैं। ये आंकड़े केंद्रीय सांख्यिकी कार्यालय ने जारी किए हैं और दोनों बहुपक्षीय संस्थानों के मुताबिक ये चुनिंदा नीतिगत कदमों पर आधारित हैं जो अगले एक-दो वर्ष में वृद्धि को गति प्रदान करेंगे। बहरहाल, एक सवाल तो फिर भी बनता है कि आखिर अनुमानों में कटौती क्यों करनी पड़ी? आखिरकार, न तो विश्व बैंक और न ही आईएमएफ के पास भारत में आंकड़ों का संग्रह करने का कोई स्वतंत्र जरिया है। ऐसे में यह स्पष्ट नहीं है कि आखिर एक एजेंसी के अनुमान में गिरावट और दूसरी में सुधार किस वजह से आया।

यह एक व्यापक मुद्दा है जो बहुपक्षीय एजेंसियों की ओर से जारी किए गए वृद्धि अनुमानों की विश्वसनीयता से ताल्लुक रखता है। ऐसे हालात में जब आधिकारिक आंकड़ों पर लगातार सवाल उठ रहे हों, तब कई पर्यवेक्षकों के लिए सबसे सहज बात यही है कि वृहद आर्थिक स्थिति से संबंधित आंकड़ों के बारे में जानकारी जुटाने के लिए स्वतंत्र स्रोतों का सहारा लें। इससे यह पता चल सकेगा कि वृहद अर्थव्यवस्था में चल क्या रहा है? बहरहाल, अगर वे स्वतंत्र सूत्र भी यह बताने की स्थिति में न हों कि उनके अनुमान सरकारी एजेंसी के अनुमान से बेहतर और अधिक भरोसेमंद क्यों हैं तो वे किसी के काम आएंगे ही क्यों? सीएसओ द्वारा जारी वृद्धि के आधिकारिक शीर्ष आंकड़ों तथा बहुपक्षीय एजेंसियों के अनुमानों में आखिर रिश्ता क्या है? उदाहरण के लिए देखें तो विश्व बैंक स्पष्ट कहता है कि वह अपने डेटा टेबल के लिए स्थानीय मुद्रा से जुड़े आंकड़ों का इस्तेमाल करता है जो हर देश जारी करता है। जब घरेलू एजेंसियां अपने आकलन के तरीके में बदलाव लाती हैं तो निरंतरता बनाए रखने के लिए विश्व बैंक अपनी आकलन पद्धति में क्या बदलाव लाता है? भारत में ऐसा हुआ है और उस पर विवाद भी उठा था। सवाल यह भी है कि ऐसे कौन से अतिरिक्त आंकड़े आए होंगे जिनके कारण अनुमान में बदलाव आया? अतीत के दिक्कतदेह अनुमानों की भी कुछ जवाबदेही होनी चाहिए। विश्व बैंक और आईएमएफ को अपने अतीत के पूर्वानुमानों और वास्तविक आंकड़ों पर नजर डालनी चाहिए और अंतर होने पर स्पष्टीकरण तैयार करना चाहिए। इससे उनके विश्लेषकों में जवाबदेही आएगी और पर्यवेक्षकों को पारदर्शिता मिलेगी।

कई सवाल ऐसे भी हैं जो विश्व बैंक और आईएमएफ के आंकड़ों के बारे में पूछे जाने चाहिए। उदाहरण के लिए विश्व बैंक का कहना है कि वर्ष 2017 में भारत का जीडीपी 2.6 लाख करोड़ डॉलर था और क्रय शक्ति समानता (पीपीपी) के संदर्भ में उसका जीडीपी 11.9 लाख करोड़ डॉलर था। पीपीपी आधार पर यह 4.76 था। उसी वर्ष विश्व बैंक ने दावा किया कि बांग्लादेश का पीपीपी जीडीपी 63,700 करोड़ डॉलर था जबकि वास्तविक संदर्भ में यह 25,000 करोड़ डॉलर था। पीपीपी आधार पर यह 2.54 है। दोनों के बीच इतना अधिक अंतर है कि प्रश्न उठना लाजिमी है। दूसरे वर्षों और अन्य समकक्ष अर्थव्यवस्थाओं के साथ यह अंतर और अधिक हो सकता है। पीपीपी के आकार और प्रतिव्यक्ति शक्ति के सवाल अंतरराष्ट्रीय बातचीत में काफी महत्त्वपूर्ण हैं। इन विसंगतियों को स्पष्ट किया जाए तो बेहतर होगा।

बिनय सिन्हा

मोदी की विदेश नीति क्या खोया क्या पाया?

आम चुनाव में कुछ ही दिन बचे हैं। ऐसे में मोदी सरकार की विदेश नीति की सफलता और उसकी नाकामी के बारे में विस्तार से जानकारी प्रदान कर रहे हैं **श्याम सरन**

देश इस समय उन्मत्त चुनावी कवायद में उलझा हुआ है लेकिन विदेश नीति एक ऐसा विषय है जो शायद ही कभी मतदाताओं की कल्पनाशीलता को जगाता हो।

पाकिस्तान के साथ रिश्तों की बात अपवाद अवश्य हो सकती है लेकिन अतीत में कभी भी यह साबित नहीं हुआ है कि राष्ट्रीय सुरक्षा के मुद्दे पर भी वोट जुटाया जा सकते हैं। यही बात बालाकोट घटना पर भी लागू होती है जहां सत्ताधारी दल ने घटना को गहरे राष्ट्रवादी रंग में रंगने की कोशिश की लेकिन वह बहुत तेजी से फीका पड़ रहा है। पहले कुछ अन्य चुनावों की तरह ही इस बार भी चुनाव प्राथमिक तौर पर घरेलू मुद्दों से ही निर्धारित होंगे। हालांकि विदेश नीति भी चर्चा का विषय है। विदेशी नीति के मुद्दों को लेकर पार्टियों का रुख अलग-अलग हो सकता है। नेतृत्व शैली अलग हो सकती है और अतीत से कुछ अलग रुख देखने को मिल सकता है। परंतु देश के बाहरी रिश्तों में मोदी के पिछले पांच साल के कार्यकाल में कोई व्यापक बदलाव नहीं आया है। आने वाली सरकार चाहे जिस राजनीतिक विचारधारा की हो, उनमें आने वाले समय में भी कोई बदलाव आता नहीं दिखता।

सवाल यह है कि विदेश नीति के मोर्चे पर मोदी सरकार के प्रदर्शन को किस प्रकार आंका जाए? यहां तीन अलग-अलग विशेषताएं हैं जो दिमाग में आती हैं।

पहली बात, मोदी ने व्यक्तिगत कूटनीति के मूल्य में बहुत अधिक यकीन दिखाया है और तमाम मुद्दों को हल करने में उन्होंने नेताओं के बीच व्यक्तिगत संपर्क को तवज्जो दी है। इसमें कोई दो राय नहीं कि पूर्व अमेरिकी राष्ट्रपति बराक ओबामा के साथ उनके रिश्तों ने भारत और अमेरिका के रिश्तों को मजबूत करने और उन्हें विस्तार देने में काफी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है। मोदी और जापान के प्रधानमंत्री शिंजो अबे के बीच जो सकारात्मक और सुस्पष्ट रिश्ता है, उसने दोनों देशों के रिश्तों को अप्रत्याशित ऊंचाई प्रदान की है। परंतु यह दलील दी जा सकती है कि मोदी उन अहम कारकों का फायदा उठा रहे थे जो पहले ही अमेरिका और जापान को भारत के करीब ला रहे थे। चीन का उभार भी इसमें एक प्रमुख कारकथा। मोदी को ट्रंप और चीन के राष्ट्रपति शी चिनफिंग के साथ रिश्तों में कोई बहुत अधिक कामयाबी नहीं मिली। मिसाल के तौर पर गत वर्ष जून में वुहान शिखर बैठक में भी चीन ने भारत की वास्तविक चिंताओं को कुछ खास तवज्जो नहीं दी। अगर रिश्तों को सकारात्मक दिशा में ले जाने वाले कुछ कारक पहले से मौजूद हों तो व्यक्तिगत कूटनीति एक अतिरिक्त कारक साबित हो सकती है। परंतु नकारात्मक तत्वों के दौर में इनका प्रभाव कमतर साबित होता है। अगर नेताओं के प्रगाढ़ रिश्तों के बावजूद बाद में उचित फॉलोअप न लिया जाए तो रिश्ते कमजोर साबित होते हैं। हमारे देश में यह कमजोरी निरंतर बनी हुई है।

दूसरा, मोदी ने विदेश नीति में प्रवासी भारतीयों का कदम मजबूत किया है। उन्होंने पिछली सरकारों से ज्यादा पहल की हैं। उन्होंने कई देशों के भारतीय समुदायों तक पहुंच बनाई और अपना घरेलू और अंतरराष्ट्रीय कद मजबूत किया। इसका फायदा भाजपा को राजनीतिक फंडिंग के रूप में मिला और मोदी की छवि मजबूत हुई परंतु देश के विकास में प्रवासियों के योगदान में कोई खास बढ़ोतरी नहीं हुई। इसके उलट चीन के प्रवासी समुदाय ने अपने देश के लिए काफी कुछ किया है। राष्ट्रीय नजरिये से यह सवाल पूछा जाना चाहिए कि समय और ऊर्जा की जो खपत की गई, क्या वह उपयोगी साबित हुई?

तीसरा, मोदी हाल के वर्षों में पहले प्रधानमंत्री हैं जिन्होंने खुले दिल से विदेशी निवेश का स्वागत किया है। अपनी हर विदेशी यात्रा में उन्होंने विदेशी पूंजी जुटाने की बात कही। उन्हें इसका श्रेय मिलना चाहिए। यह अलग बात है कि भारतीय बाजार में संभावित विदेशी निवेशकों के लिए चुनौती बरकरार है। सच तो यह है कि भारतीय निवेशक अपने ही देश में निवेश के इच्छुक नहीं दिख रहे। यह कोई अच्छा संकेत नहीं है। नियामकीय और कर संबंधी मुद्दे भी हैं। अहम बात यह है कि नीतिगत अनिश्चितता के बीच प्रधानमंत्री के सकारात्मक संदेश के बावजूद ये चिंताएं कम नहीं हो रहीं। आर्थिक कूटनीति इस सरकार की प्राथमिकता रही है लेकिन नतीजे बहुत सकारात्मक नहीं रहे हैं। इससे लगता है कि ढांचागत और संचालन संबंधी मुद्दों को जल्द हल करने की आवश्यकता है।

चौथा, खाड़ी और पश्चिम एशिया में तेजी से बदली जटिल परिस्थितियों का प्रबंधन करने में हमें कामयाबी मिली है। मोदी सरकार एक ओर सऊदी अरब और संयुक्त अरब अमीरात तो दूसरी ओर ईरान के साथ अपने रिश्ते मजबूत करने में लगातार कामयाब रही है। इजरायल के साथ भी हमारे रिश्ते अच्छे हैं। इससे न केवल देश को ऊर्जा सुरक्षा हासिल हुई है बल्कि आतंकवाद के खिलाफ नए सहयोगी भी मिले हैं। उसने ईरान और सीरिया के प्रति नीति बदलने के अमेरिकी दबाव को भी धता बताया। यह पिछली सरकारों का भी लक्ष्य था लेकिन ऐसी कूटनीति पहले देखने को नहीं मिली।

हालांकि मोदी की पाकिस्तान नीति ने देश को अंतरराष्ट्रीय स्तर पर हिचक में डाल दिया। पाकिस्तान को घरेलू राजनीतिक मुद्दा बनाने की कोशिश ने विदेश नीति को नुकसान पहुंचाया और समाज में सांप्रदायिक भेदभाव को बढ़ावा दिया। हम पाकिस्तान से इसलिए नहीं निपट पा रहे हैं क्योंकि इसके पीछे घरेलू राजनीतिक कारण हैं। हमारी मानसिकता में पाकिस्तान ने इतना स्थान घेर रखा है कि हम अन्य पड़ोसियों के बारे में नहीं सोच पा रहे हैं।

चीन ने हमारे पड़ोस में कहीं अधिक गहरी पकड़ बना ली है। इसके अलावा पाकिस्तान के प्रति बढ़ते शत्रु भाव और तनाव के कारण भारत अंतरराष्ट्रीय हस्तक्षेप को लेकर भी संवेदनशील हो गया है। जम्मू और कश्मीर का कुप्रबंधन, सामान्य कश्मीरियों में पाकिस्तान के समर्थन में सहानुभूति की भावना आदि ने पाकिस्तान के साथ रिश्तों को खतरनाक स्तर पर पहुंचा दिया है। अगर हम भारतीय उपमहाद्वीप में यूं ही उलझे रहे तो हमारे मजबूत क्षेत्रीय और वैश्विक कद पर असर होगा।

बीते 70 वर्ष से अधिक समय में भारत ने एक जीवंत लोकतंत्र के रूप में जबरदस्त अंतरराष्ट्रीय पूंजी जुटाई है। इसकी मदद से ही विविधतापूर्ण आबादी वाला हमारा देश एकजुट रहा और असहमति और बहस का उत्सव मनाता रहा है। एक और आम चुनाव देश की लोकतांत्रिक पहचान की मजबूती का प्रतीक है लेकिन मौजूदा राजनीतिक बहस इसका परिचय नहीं देती। देश की विशिष्टता को जोखिम उत्पन्न हो रहा है। बहुलतावादी धर्मनिरपेक्ष लोकतांत्रिक देश की पहचान को खतरा है। इस मायने में मोदी सरकार काफी हद तक विफल रही है।

(लेखक पूर्व विदेश सचिव और सीपीआर के वरिष्ठ फेलो हैं।)

तमाम सरकारों ने संपन्न और मध्य वर्ग को ही लाभ पहुंचाया

जिंदगीनामा

कनिका दत्ता

करदाताओं के पैसे से गठित बुनियादी ढांचा निवेश फंड नैशनल इन्फ्रास्ट्रक्चर इन्वेस्टमेंट फंड (एनआईआईएफ) जमीन पर आई निजी एयरलाइन जेट एयरवेज के लिए बोली लगाने के बारे में सोच रहा है। हमें ध्यान रखना होगा कि आबादी का बहुत छोटा-सा हिस्सा ही हवाई यात्रा करता है। वहीं करोड़ों लोगों के इस्तेमाल में आने वाले रेलवे स्टेशनों के पुनर्विकास के लिए फंड का इंतजाम भी नहीं हो पा रहा है।

भारत में अक्सर डॉक्टर जटिलतम मामलों में भी सफल सर्जरी और अत्याधुनिक इलाज के लिए सुर्खियां बनाते रहते हैं जिससे भारत आज गंभीर रोगों के किफायती इलाज के लिए बेहतरीन स्थल बनता जा रहा है। लेकिन एक आम भारतीय के लिए माकूल इलाज करा पाना अब भी काफी मुश्किल है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य प्रोफाइल के आंकड़े बताते हैं कि भारत में प्रति 11,000 आबादी पर एक एलोपैथी डॉक्टर है जबकि विश्व स्वास्थ्य संगठन (डब्ल्यूएचओ) का अनुशंसित अनुपात इसका दस गुना है। बिहार में तो 28,000 की आबादी पर एक ही डॉक्टर है। जहां तक अस्पतालों में उपलब्ध बिस्तरों का सवाल है तो प्रति हजार आबादी पर एक से भी कम बिस्तर है जबकि डब्ल्यूएचओ की अनुशंसा एक हजार आबादी पर पांच बिस्तरों की है।

भारत में विश्व स्तरीय इंजीनियरिंग एवं प्रबंध संस्थान मौजूद हैं जहां से पढ़कर निकलने वाले युवाओं को वैश्विक मानकों के हिसाब से वेतन मिल रहे हैं। लेकिन देश में प्राथमिक शिक्षा दे रहे सरकारी स्कूलों की गुणवत्ता इतनी खराब है कि 'प्रथम' की तरफ से शैक्षणिक स्तर पर जारी सालाना रिपोर्ट के मुताबिक आठवीं कक्षा के 27 फीसदी छात्र दूसरी कक्षा की किताबें भी ठीक से नहीं पढ़ पाते हैं। तथ्य यह है कि प्रथम इस स्तर को भी पिछले वर्षों की तुलना में सुधरी हुई स्थिति बताता है। यह देश में सरकारी स्कूलों में मिलने वाली शिक्षा की नाकामी का सूचक है।

ऐसे में बड़ी तस्वीर यही उभरती है कि उदारीकरण के बाद का भारत अपने मध्य एवं उच्च-मध्य वर्ग और समृद्ध लोगों के लिए ही काम करता नजर आ रहा है। गरीबों के लिए वह कुछ खास करता नहीं दिख रहा।

ये सभी तथ्य जाने-पहचाने सच हैं लेकिन चुनावों के समय इनका सार्वजनिक विमर्श पर प्रच्छन्न प्रभाव देखा जाता है। यह विडंबना ही है कि वर्ष 1991 के बाद गरीबी के स्तर में आई नाटकीय गिरावट के बावजूद बुनियादी सुविधाओं तक पहुंच में ऐसी गहरी असमानता तमाम सत्तारूढ़ सरकारों के बीच रोचक ढंग से एक जैसी रही है।

इसी से हमें पता चलता है कि न्यूनतम आय योजना, मनरेगा, जन-धन, उज्ज्वला और आयुष्मान भारत जैसी लोक-लुभावन योजनाओं का साल-दर-साल इतना राजनीतिक आकर्षण क्यों बढ़ता जा रहा है?

राजनीतिक विचारधारा से इतर सार्वजनिक नीति में ऐसी सामूहिक दुर्बलता का होना एक पहेली की तरह है। यह सुविदित है कि मध्य वर्ग और संपन्न लोगों की तुलना में गरीब मतदाता बड़ी संख्या में मतदान करने के लिए बाहर निकलते हैं।

साफ तौर पर कहें तो भारत के लिए विमानन, ऑटोमोबाइल, खुदरा, अस्पताल, दूरसंचार, आईटी सेवा और आवासीय क्षेत्र में वैश्विक मानकों की बराबरी नहीं कर पाने की कोई वजह नहीं है। इन सभी क्षेत्रों ने रोजगार पैदा करने के मोर्चे पर अपनी-अपनी भूमिका बखूबी निभाई है। सुरक्षा एवं इमारतों की देखभाल से संबंधित क्षेत्र में 'चौकीदार' की मांग भी खूब बढ़ी है। समस्या यह है कि नीतियों की प्राथमिकता इतनी एकांगी रही है कि आर्थिक सुधारों के फल समान रूप से वितरित होने के बजाय शीर्ष-से-नीचे आते रहे हैं। ऐसा होने से अवसरों की असमानता बढ़ी है जिसके चलते भारत चीन और दक्षिण-पूर्व एशियाई देशों की बराबरी कर पाने में पीछे रह गया है। यह देखना आसान है कि आखिर क्यों हमने एयरपोर्ट, एयरलाइन, दूरसंचार और चिकित्सा देखभाल में निवेश को प्रोत्साहन देने पर जोर दिया। इस तरह के क्षेत्रों के लिए भारतीय समाज के उस तबके की सहमति मिलती है जो दावोस बैठक में शामिल होता है। इससे प्रत्यक्ष विदेशी निवेशकों को यह संदेश भी दे दिया जाता है कि भारत कारोबार के लिए खुला बाजार है। चीन हमें यह सिखा चुका है कि आला दर्जे के एयरपोर्ट से बेहतर संदेश देने वाला कुछ नहीं है। ऐसी स्थिति में स्वास्थ्य एवं शिक्षा से जुड़ी परियोजनाओं में पैसा और मेहनत लगाने का उतना असर और नतीजा नहीं नजर आता है।

लेकिन गुणवत्तापरक सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा और ढांचागत सेवाओं पर कम ध्यान देने और उसकी जगह इन सेवाओं में निजी क्षेत्र को प्रोत्साहन देने का व्यावहारिक एवं सामाजिक दोनों संदर्भों में विपरीत असर होता है। वर्ष 2000 से लेकर 2008 के बीच अर्थव्यवस्था की तेजी का दौर रहा था। इस दौरान भारतीय कंपनियों को कुशल श्रमिकों की कमी का सामना करना पड़ा था। हालांकि इसका नतीजा यह हुआ कि कर्मचारियों का वेतन भी बढ़ गया। लेकिन अर्थव्यवस्था में सुस्ती आने और नोटबंदी जैसे व्यवस्थागत आघातों की स्थिति में अशिक्षित एवं कम-कुशल कामगारों को बड़ी संख्या में नौकरी से हाथ धोना पड़ा।

सार्वजनिक सेवाओं को नजरअंदाज किए जाने एवं उनमें आए ह्रास ने भी समाज का विभाजन करने में एक प्रच्छन्न भूमिका निभाई है। अच्छी कमाई करने वाले लोग सार्वजनिक परिवहन, ट्रेन, सरकारी अस्पतालों और स्कूलों का इस्तेमाल करने से बचने लगते हैं जिससे ये सार्वजनिक सेवाएं और भी बदहाल होती जाती हैं। कोई भी पक्का पूंजीवादी यह जानता है कि थोड़ी-बहुत असमानता समाज के भीतर आकांक्षा का भाव जगाने में मददगार होती है लेकिन जब नजरअंदाज करने वाली नीतियों के चलते उन आकांक्षाओं को पूरा करने के अवसर सीमित होने लगते हैं तो फिर समाज का ढांचा ध्रुवीकृत होने लगता है। इस समाज में जाति एवं धर्म की सदियों पुरानी पहचान ही उन लोगों की प्रगति की इकलौती प्रोत्साहक हो जाती है।

कानाफूसी

बिजली संकट और राजनीति

गर्मियों का मौसम शुरू ही हुआ है और मध्य प्रदेश के लोगों को अचानक बिजली चले जाने से परेशानी का सामना करना पड़ रहा है। यह मामला इतना जोर पकड़ गया कि प्रदेश की कांग्रेस सरकार तक चिंतित हो उठी। मुख्यमंत्री कमलनाथ ने बार-बार बिजली कटने को राजनीतिक षडयंत्र तक कह डाला। उनके पास इसकी वजह भी थी। कुछ माह पहले विधानसभा चुनाव के दौरान शिवराज सिंह चौहान समेत भाजपा नेता जनता से कहते थे कि कांग्रेस की सरकार आई तो बिजली की दिक्कत शुरू हो जाएगी। अब जबकि लोकसभा चुनाव आरंभ हो चुके हैं तो इस मुद्दे को संवेदनशील होना ही था। कमलनाथ ने इसके लिए बकायदा अधिकारियों से जवाब तलब किया। गौरतलब है कि मध्य प्रदेश बिजली अधिशेष वाला राज्य है और वह अपनी बिजली अन्य राज्यों को बेचता भी है।

ममता का बायोपिक!

भारतीय जनता पार्टी (भाजपा) ने पिछले दिनों चुनाव आयोग से शिकायत करते हुए एक फिल्म को रिलीज करने से रोकने की मांग की है। यह फिल्म पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री और तृणमूल कांग्रेस नेता ममता बनर्जी की बायोपिक है यानी उनके जीवन पर आधारित है। बाघिनी नामक इस फिल्म को आगामी 3 मई को रिलीज होना है। यानी चुनावी मौसम के ठीक बीचोबीच। केवल भाजपा ही नहीं बल्कि तृणमूल के अन्य विरोधी भी इस फिल्म के रिलीज को लेकर विरोध दर्ज करा रहे हैं। फिल्म की पटकथा लेखिका और निर्माता पिंकी पाल के मुताबिक फिल्म की शूटिंग 2016 में आरंभ हुई थी थी लेकिन बाद में कई सारी कमियां दूर करने में इतना वक्त लग गया।

आपका पक्ष

चुनावों में विदेशी सरकारों का प्रभाव

लोकतांत्रिक देशों में सत्ता का हस्तांतरण विदेशी सरकारों के प्रभाव के बगैर होता है। लेकिन हाल के वर्षों में किसी देश के चुनावों में बाहरी शक्तियों या विदेशी सरकारों के प्रभाव के कई उदाहरण देखने को मिले हैं। वर्ष 2016 में अमेरिकी आम चुनावों में रूस की भूमिका के संदर्भ में विकिलीक्स के जरिये कई खुलासे हुए जिनकी पुष्टि भी की जा चुकी है कि किस तरह ट्रंप के पक्ष में सोशल मीडिया का उपयोग किया गया। अमेरिका खुद भी ऐसी गतिविधियों में शामिल होता आया है। क्यूबा के आंतरिक मामलों में हस्तक्षेप का विषय चर्चा में रहा है। बाद के वर्षों में अफगानिस्तान तथा इराक में भी अमेरिका का प्रभाव साफ दिखा। अमेरिकी प्रभाव का सबसे नवीनतम उदाहरण इजराइल का आम चुनाव है। जहां सत्तासीन प्रधानमंत्री को पुन: सत्ता दिलाने के लिए वातावरण तैयार करने में अमेरिका ने कोई कसर नहीं छोड़ी। इजराइली प्रधानमंत्री की छवि को मजबूत करने के लिए अमेरिका ने पूरे विश्व के मत को किनारे करते हुए तेल अवीव स्थित अमेरिकी दूतावास को फिलिस्तीन एवं इजराइल के मध्य विवाद का विषय रहे जेरुशलेम स्थानातरित करने की घोषणा की। साथ ही सीरिया से छीने गए गोलन पहाड़ी वाले क्षेत्र पर भी इजराइल के कब्जे को मान्यता दे दी। भारत भी नेपाल, मालदीव तथा बांग्लादेश के चुनावों में अपनी सकारात्मक भूमिका का दावा करता आया है। कुछ इसी तरह का उदाहरण इस बार लोकसभा चुनाव में भी दिखाई दे रहा है। प्रधानमंत्री को चुनाव की घोषणा के कुछ ही समय बाद संयुक्त अरब अमीरात सरकार द्वारा अपने देश के सर्वोच्च नागरिक सम्मान से नवाजे जाने का ऐलान किया गया। रूस की सरकार ने भी प्रधानमंत्री को सर्वोच्च नागरिक सम्मान से सम्मानित करने की घोषणा की। इसे विपक्षी दलों का दुर्भाग्य कहें या कुछ और वे इसकी शिकायत चुनाव आयोग से भी नहीं कर सकते हैं। प्रधानमंत्री को सम्मानित होता देख जनता का भावविभोर होना स्वाभाविक है। ऐसे वातावरण में मुख्य चुनावी मुद्दे गौण होते नजर आते हैं। मित्र देशों द्वारा चुनाव के वक्त सम्मान दिया जाना बहस को जन्म देता है। इस पर विचार करने की जरूरत है। आम मतदाता को चाहिए कि वे बिना किसी प्रभाव के घरेलू मुद्दों तथा तथ्यों के आधार पर ही मतदान करे।

महाराष्ट्र के सोलापुर में पहली बार मतदान करने के बाद सेल्फी लेती युवतियां *-पीटीआई*

ऋषभ देव पांडेय, कोरबा

आग से सुरक्षा के लिए जागरूकता

देश में 14 अप्रैल को अग्निशमन दिवस के रूप में मनाया जाता है। बॉम्बे डॉकशिप में 14 अप्रैल 1944 को आग लगने से 71 अग्निशमन कर्मियों की जान चली गई थी। उन्हें याद करते हुए इस दिन श्रद्धांजलि अर्पित की जाती है। इस अवसर पर मुंबई में मॉक ड्रिल, डेमोंस्ट्रेशन, व्याख्यान के जरिये लोगों को जागरूक किया जाता है। आग से सुरक्षा पर कार्यक्रम आयोजित किए जाते हैं। देश में सिलिंडर फटने की घटनाएं सामने आती रहती हैं। घटना के समय अग्निशमन सिलिंडर इस्तेमाल करने का कौशल आम लोगों के पास नहीं होता है जिससे आग पर काबू पाने में देर हो जाती है। ऐसी घटनाओं से निपटने के लिए सरकार को स्कूल, कॉलेज और सार्वजनिक स्थानों पर आग से सुरक्षा पर अभियान चलाना चाहिए। फायर ब्रिगेड सेवा ग्रामीण इलाकों में भी होनी चाहिए।

पाठक अपनी राय हमें इस पते पर भेज सकते हैं : संपादक, बिजनेस स्टैंडर्ड लिमिटेड, 4, बहादुर शाह जफर मार्ग, नई दिल्ली - 110002. आप हमें ईमेल भी कर सकते हैं : lettershindi@bsmail.in उस जगह का उल्लेख अवश्य करें, जहां से आप ईमेल कर रहे हैं।